तत्त्वार्थवृत्ति : एक अध्ययन

• प्रो० उदयचन्द्र जैन सर्वदर्शनाचार्य, वाराणसी

आचार्य गृद्धपिच्छ अपरनाम उमास्वामी द्वारा विरचित तत्त्वार्थसूत्र जैनपरम्पराका आद्य सूत्र ग्रन्थ है जो दश अध्यायोंमें विभक्त है। इस पर सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि अनेक संस्कृत टीकाओंका निर्माण हुआ है। उनमें श्री श्रुतसागरसूरि विरचित तत्त्वार्थवृत्ति भी तत्त्वार्थसूत्रकी एक विशाल और उपयोगी टीका है। यह टीका पहले अप्रकाशित थी। सम्पादनकला विशेषज्ञ स्व० डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यने इसका विद्वत्तापूर्ण सम्पादन किया और भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा सन् १९४९ में ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमालाके अन्तर्गत इसका प्रकाशन हुआ।

ग्रन्थ नाम

इस टीकाका नाम तत्त्वार्थवृत्ति है। श्रुतसागरसूरिने ग्रन्थके प्रारम्भमें "वक्ष्ये तत्त्वार्थवृत्तिं निज-विभवतयाऽहं श्रुतोदन्वदाख्यः।" ऐसा लिखकर स्पष्ट कर दिया है कि इस ग्रन्थका नाम तत्त्वार्थवृत्ति है। इसके प्रथम अध्यायके अन्तमें आगत पुष्पिका वाक्यमें—"तत्त्वार्थटीकायां प्रथमोऽध्यायः समाप्तः।" ऐसा लिखा है। द्वितीय अध्यायके अन्तमें जो पुष्पिका वाक्य है उसमें लिखा है—"तात्पर्यसंज्ञायां तत्त्वार्थवृत्तौ द्वितीयः पादः समाप्तः।" ऐसा लिखा है। इसी प्रकार तृतीय आदि अध्यायोंके अन्तमें भी "तात्पर्यसंज्ञायां तत्त्वार्थवृत्तौ" ऐसा उल्लेख मिलता है उपरिलिखित पुष्पिका वाक्योंसे ऐसा प्रतीत होता है कि तत्त्वार्थवृत्तिके दो नाम और हैं—'तत्त्वार्थटीका' और तात्पर्य"। किन्तु श्रुतसागरसूरिको इसका नाम तत्त्वार्थवृत्ति ही अभीष्ट है। इसी कारण उन्होंने ग्रन्थके प्रारंभमें तथा अन्तमें इसका तत्त्वार्थवृत्ति नाम ही लिखा है। ग्रन्थके अन्तका उल्लेख इस प्रकार है—"एषा तत्त्वार्थवृत्तिः यैर्विचार्यते।" तत्त्वार्थसूत्रकी टीका होनेके कारण इसका तत्त्वार्थ-टीका यह एक साधारण नाम है। तत्त्वार्थसूत्रके तात्पर्यको स्पष्ट करनेके कारण इसको तात्पर्य संज्ञक तत्त्वार्थ-वृत्ति भी कह सकते हैं। फिर भी इसका वास्तविक नाम तत्त्वार्थवृत्ति ही है।

यहाँ एक बात विचारणीय है कि श्रुतसागरसूरिने प्रथम अध्यायके अन्तमें 'प्रथमोऽध्यायः समाप्तः' ऐसा लिखा है। किन्तु द्वितीय आदि नौ अध्यायोंके अन्तमें 'द्वितीयः पादः समाप्तः', 'तृतीयः पादः समाप्तः' इस प्रकार लिखा है। यहाँ यह विचारणीय है कि लेखकने अध्यायके स्थानमें पाद शब्दका प्रयोग क्यों किया है। क्योंकि सब अध्यायोंके अन्तमें एकसा प्रयोग होना चाहिए। फिर जब दश अध्याय प्रारंभसे ही प्रचलित हैं तब अध्यायको पाद लिखना अटपटासा लगता है। न्यायसूत्र, वैशेषिक सूत्र आदि अन्य दर्शनोंके सूत्र ग्रन्थोंमें एक अध्यायमें कई पाद होते हैं। अतः वहाँ 'प्रथमेऽध्याये प्रथमः पादः,' 'द्वितीयः पादः' इत्यादि प्रकारसे उल्लेख किया गया है जो ठीक है। इससे यही सिद्ध होता है कि अध्याय और पाद अलग-अलग हैं। इसलिए अध्यायको पाद लिखना ठीक प्रतीत नहीं होता है। फिर भी इतना निश्चित है कि तत्त्वार्थवृत्तिके लेखकको पाद शब्दसे अध्याय ही इष्ट है।

ग्रन्थकारका व्यक्तित्व एवं कृतित्व

तत्त्वार्थवृत्तिके कर्ताका नाम श्रुतसागरसूरि है। ये दिगम्बर जैन मुनि होनेके साथ ही बहुश्रुत विद्वान् थे। यथार्थमें वे श्रुतके सागर थे। वे तर्क, व्याकरण, छन्द, अलंकार, साहित्यशास्त्र, धर्मशास्त्र आदिके ज्ञाता होनेके साथ ही सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड, अष्टसहस्री आदि जैनदर्शनके तथा न्याय-वैशेषिक आदि इतर दार्शनिक ग्रन्थोंके प्रकाण्ड पण्डित थे। उनका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान कितना व्यापक था इसका पता तत्त्वार्थवृत्तिमें उद्धृत वाक्योंसे चलता है। तत्त्वार्थवृत्तिमें जिन अनेक ग्रन्थोंके श्लोक, गाथा तथा गद्यात्मक वाक्य उद्धृत हैं उनमेंसे कई उद्धरण ऐसे हैं जिनके मूलग्रन्थोंका पता विद्वान् सम्पादकको भी नहीं चल सका है। इससे ज्ञात होता है कि उनका अध्ययन और ज्ञान कितना विशाल था।

श्रुतसागरसूरि मूलसंघके बलात्कारगणमें विक्रमकी सोलहवीं शताब्दीमें हुए हैं। इनके गुरुका नाम विद्यानन्दि था। श्रुतसागरसूरिने अपनेको कलिकालसर्वज्ञ, कलिकालगौतम, व्याकरणकमलमार्तण्ड, तार्किक-शिरोमणि, परमागमप्रवीण, नवनवतिमहा-महावादि विजेता आदि विशेषणोंसे अलंकृत किया है। इन्होंने तत्त्वार्थवृत्तिके अतिरिक्त जिन सहस्रनामटीका, औदार्य चिन्तामणि, व्रतकथाकोश, तत्त्वत्रय-प्रकाशिका आदि अन्य कई ग्रन्थोंकी रचना की थी।

तत्त्वार्थवृत्तिकी विशेषता

तत्त्वार्थवृत्ति तत्त्वार्थसूत्रके तात्पर्यको स्पष्ट करनेवाली एक विस्तृत टीका है जो परिमाणमें सर्वार्थ-सिद्धिसे भी बड़ी है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे यह सर्वार्थसिद्धिकी व्याख्या हो। इसमें पूज्यपादकृत सर्वार्थ-सिद्धि ग्रन्थ पूराका पूरा समाविष्ट हो गया है। इसमें सर्वार्थसिद्धिके अनेक पदोंकी व्याख्या, सार्थकता, विशेषार्थ आदि विपुल मात्रामें उपलब्ध होते हैं। इसके साथ ही इसमें सर्वार्थसिद्धिके सूत्रात्मक वाक्योंके अभिप्रायको अच्छी तरहसे उद्घाटित किया गया है। अतः सर्वार्थसिद्धिको समझनेमें इससे बहुत सहायता मिलती है।

यद्यपि श्रुतसागरसूरि अनेक शास्त्रोंके प्रकाण्ड पण्डित थे फिर भी 'को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे' इस सूक्तिके अनुसार उन्होंने भी तत्त्वार्थवृत्तिमें कुछ गलतियाँ की हैं और इन गलतियोंका उद्घाटन विद्वान् सम्पादकने प्रस्तावनामें किया है। जैसे सूत्र संख्या ९/५ की वृत्तिमें आदाननिक्षेपसमितिका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—

धर्मोपकरणग्रहणविसर्जने सम्यगवलोक्य मयूरवर्हेण तदभावे वस्त्रादिना प्रतिलिख्य स्वीकरणं विसर्जनञ्च सम्यगादाननिक्षेपसमितिर्भवति।

अर्थात् धर्मके उपकरणोंको मोरकी पीछी से, पीछीके अभावमें वस्त्र आदिसे अच्छी तरह झाड़ पोंछ-कर उठाना और रखना सम्यक् आदाननिक्षेपसमिति है।

यहाँ श्रुतसागरसूरिने मयूरपिच्छके अभावमें वस्त्रादिके द्वारा धर्मोपकरणोंके प्रतिलेखनका जो विधान किया है वह दिगम्बर परम्पराके अनुकूल नहीं है।

इसी प्रकार सूत्र संख्या ९/४७ में आगत लिंग शब्दकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

लिङ्गं द्विप्रकारं द्रव्यभावभेदात्। तत्र पञ्चप्रकारा अपि निर्ग्रन्था भावलिङ्गिनो भवन्ति। द्रव्यलिङ्गं तु भाज्यम्। तत्किम्? केचिदसमर्था महर्षयः शीतकालादौ कम्बलशब्दवाच्यं कौशेयादिकं गृह्णन्ति, न तत् प्रक्षालयन्ति, न सीव्यन्ति, न प्रयत्नादिकं कुर्वन्ति, अपरकाले परिहरन्ति। केचिच्छरीरे उत्पन्नदोषा लज्जितत्वात् तथा कुर्वन्तीति व्याख्यानमाराधनाभगवतीप्रोक्ताभिप्रायेणापवादरूपं ज्ञातव्यम्।

अर्थात् लिंगके दो भेद हैं—द्रव्यलिंग और भावलिंग। पाँचों प्रकारके मुनियोंमें भावलिंग समानरूपसे पाया जाता है। द्रव्यलिंगकी अपेक्षासे उनमें कुछ भेद पाया जाता है। कोई असमर्थ मुनि शीतकाल आदिमें कम्बल आदि वस्त्रोंको ग्रहण कर लेते हैं। लेकिन उस वस्त्रको न धोते हैं और फट जाने पर न सीते हैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा कुछ समय बाद उसको छोड़ देते हैं। कोई मुनि शरीरमें विकार उत्पन्न हो जानेसे लज्जाके कारण वस्त्रोंको ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकारका व्याख्यान भगवती आराधनामें अपवादरूपसे बतलाया है।

इस प्रकरणमें विद्वान् सम्पादकने लिखा है कि भगवती आराधनाकी अपराजित सूरिकृत विजयोदया टीकामें यह अपवाद मार्ग स्वीकार किया गया है। क्योंकि अपराजितसूरि यापनीय संघके आचार्य थे और यापनीय आगमोंको प्रमाण मानते थे। परन्तु श्रुतसागरसूरि तो कट्टर दिगम्बर थे। वे कैसे इस चक्करमें आ गये।

इसी प्रकार सूत्र संख्या ५/४१, ८/२, ८/११, ९/१ इत्यादि सूत्रोंकी वृत्तियोंमें भी कुल गलतियाँ विद्यमान हैं। फिर भी तत्त्वार्थवृत्ति अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण और बहुत ही उपयोगी बृहदाकार रचना है। इसका परिमाण ९००० श्लोक प्रमाण है। सुपर रायल साइजके ३२८ पृष्ठोंमें इसका मुद्रण हुआ है। संस्कृत टीकाके बाद १८३ पृष्ठोंमें इसका हिन्दी सार भी मुद्रित है जिसे श्री उदयचन्द्र जैन सर्वदर्शनाचार्यने लिखा है। इसमें तत्त्वार्थसूत्र पर श्रुतसागरसूरिका जो विवेचन है वह प्रायः पूरा संगृहीत है और संस्कृत न जानने वालोंके लिए यह हिन्दी सार बहुत ही उपयोगी है। ग्रन्थके अन्तमें ६५ पृष्ठोंमें ६ उपयोगी परिशिष्ट दिये गये हैं। इस प्रकार सुपर रायल साइजमें मुद्रित तत्त्वार्थवृत्तिकी कुल पृष्ठ संख्या ६५० है।

अब यहाँ "भरतैरावतयोवृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्।" ३/२७। इस सूत्रकी व्याख्यामें उल्लिखित कुछ विशेष बातों पर विचार करना आवश्यक प्रतीत हो रहा है।

श्रुतसागरसूरिने अवसर्पिणी कालके वर्णनमें कुछ विशेष बातें बतलाई हैं जो इस प्रकार हैं—

अवसर्पिण्यास्तृतीयकाले पल्यस्याष्टम भागे स्थिते सति षोडशकुलकरा उत्पद्यन्ते। तत्र षोडशकुलकरेषु मध्ये पञ्चदशकुलकराणामष्टम एव भागे विपत्तिर्भवति। षोडशस्तु कुलकरः उत्पद्यते अष्टम एव भागे विनाशस्तु तस्य चतुर्थकाले भवति। पञ्चदश कुलकरस्तीर्थंकरः। तत्पुत्रः षोडशकुलकरश्चक्रवर्ती भवति। तौ द्वावपि चतुरशीतिलक्षपूर्वजीवितौ। चतुर्थकाले त्रयोविंशतिस्तीर्थंकरा उत्पद्यन्ते निर्वान्ति च।

एकादश चक्रवर्तिनः नव बलभद्राः नव वासुदेवाः नव प्रतिवासुदेवा उत्पद्यन्ते। एकादशरुद्रा नव नारदाश्च उत्पद्यन्ते। अर्थात् अवसर्पिणीके तृतीयकालमें आठवां भाग शेष रहने पर १६ कुलकर उत्पन्न होते हैं। १६ कुलकरोंमें से १५ की आठवें भागमें ही मृत्यु हो जाती है। सोलहवां कुलकर आठवें भागमें ही उत्पन्न होता है किन्तु उसकी मृत्यु चतुर्थकालमें होती है। पन्द्रहवां कुलकर तीर्थंकर होता है और सोलहवां कुलकर उसका पुत्र चक्रवर्ती होता है। उन दोनोंकी आयु चौरासी लाख पूर्वकी होती है। चौथे कालमें तेईस तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं और निर्वाणको प्राप्त होते हैं। चतुर्थकालमें ११ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव उत्पन्न होते हैं। ११ रुद्र और ९ नारद भी इस कालमें उत्पन्न होते हैं।

अब उत्सर्पिणी कालकी जिन विशेषताओंको श्रुतसागरसूरिने बतलाया है उनको देखिए—

उत्सर्पिण्याः द्वितीयस्य कालस्यान्ते वर्षसहस्रावशेषे स्थिते सति चतुर्दशकुलकरा उत्पद्यन्ते। तद्वर्षसहस्रमध्ये त्रयोदशानां विनाशो भवति। चतुर्दश कुलकर उत्पद्यते। तद्वर्षसहस्रमध्ये विपद्यते तु तृतीयकालमध्ये। तस्य चतुर्दशस्य कुलकरस्य पुत्रस्तीर्थंकरो भवति। तस्य तीर्थंकरस्य पुत्रश्चक्रवर्ती भवति। तद्द्वयस्याप्युत्पत्तिस्तृतीयकाले भवति। अस्मिन्नेवकाले शलाकाः पुरुषा उत्पद्यन्ते।

अर्थात् उत्सर्पिणीके द्वितीय कालके अन्तमें एक हजार शेष रहने पर चौदह कुलकर उत्पन्न होते हैं। तेरह कुलकर द्वितीय कालमें ही उत्पन्न होते हैं और मरते भी द्वितीय कालमें ही हैं। लेकिन चौदहवां कुलकर उत्पन्न तो द्वितीय कालमें ही होता है किन्तु मरता तृतीय कालमें है। चौदहवें कुलकर का पुत्र तीर्थंकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है और उस तीर्थंकर का पुत्र चक्रवर्ती होता है इन दोनोंकी उत्पत्ति तृतीय कालमें होती है। इसी कालमें ६३ शलाका पुरुष उत्पन्न होते हैं। २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ नारायण, और ९ प्रति-नारायण ये ६३ शलाका पुरुष कहलाते हैं।

अब मुझे यहाँ उपर्युक्त कथनके आधारसे चार बातों पर विचार करना है। उनमेंसे पहली विचारणीय बात यह है कि श्रुतसागरसूरिके अनुसार अवसर्पिणी कालमें १६ कुलकर होते हैं और उत्सर्पिणी कालमें १४ कुलकर होते हैं। ऐसा क्यों होता है। दोनों कालोंमें कुलकरोंकी संख्या एक समान होना चाहिये। जैसे कि तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों आदिकी संख्या सदा एक समान रहती है। प्रत्येक कालमें तीर्थंकर २४ ही होते हैं। कभी २३ हों और कभी २५ हों ऐसा नहीं होता है। आदिपुराण, पद्मपुराण आदि ग्रन्थोंमें भी इस अवसर्पिणी कालमें कुलकर १४ ही बतलाये गये हैं। और चौदहवें तथा अन्तिम कुलकर नाभिराय थे। यहाँ यह विचारणीय है कि अवसर्पिणी कालमें १६ कुलकरोंकी मान्यता श्रुतसागरसूरिकी अपनी है या उसका कोई आधार रहा है।

द्वितीय विचारणीय बात यह है कि अवसर्पिणी कालमें प्रथम तीर्थंकरकी उत्पत्ति किस कालमें होती है? तृतीय कालमें या चतुर्थ कालमें? श्रुतसागरसूरिके कथनसे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक अवसर्पिणीके तृतीय कालमें प्रथम तीर्थंकरका जन्म होता है। यदि उनकी ऐसा मान्यता है तो वह गलत है। सामान्य नियम यह है कि प्रत्येक अवसर्पिणी कालके चतुर्थ कालमें २४ तीर्थंकर होते हैं और प्रत्येक उत्सर्पिणी कालके तृतीय कालमें २४ तीर्थंकर होते हैं। वर्तमान अवसर्पिणी काल इसका अपवाद अवश्य है। इस अवसर्पिणी कालके तृतीय कालमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथका जन्म अवश्य हुआ है, किन्तु सदा ऐसा नहीं होता है। इस बार ऐसा क्यों हुआ इसका विशेष कारण है और वह कारण है हुण्डावसर्पिणी काल। यह कालका एक दोष है। इस दोषके कारण कभी कुछ ऐसी बातें होती हैं जो सामान्यरूपसे सदा नहीं होतीं। जैसे इस अवसर्पिणी कालके तृतीय कालके अन्तमें प्रथम तीर्थंकरका जन्म होना। तीर्थंकरके पुत्रीका जन्म नहीं होता है। किन्तु काल दोषके कारण ऋषभनाथके दो पुत्रियाँ ब्राह्मी और सुन्दरी हुईं। यह सब हुण्डावसर्पिणी कालका प्रभाव है। हुण्डावसर्पिणी कालमें कौन-कौनसी विशेष बातें होती हैं इसका वर्णन तिलोयपण्णत्तीके चतुर्थ अध्यायमें किया गया है। किन्तु श्रुतसागरसूरिने हुण्डावसर्पिणी कालका उल्लेख कहीं भी नहीं किया है। यहाँ यह स्मरणीय है कि असंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालोंके बीत जाने पर एक बार हुण्डावसर्पिणी काल आता है।

यहाँ तीसरी विचारणीय बात यह है कि श्रुतसागरसूरिने अवसर्पिणी कालके प्रथम तीर्थंकरको कुलकर माना है किन्तु उत्सर्पिणी कालके प्रथम तीर्थंकरको कुलकर नहीं माना। ऐसा क्यों माना है यह समझमें नहीं आ रहा है। अवसर्पिणी कालके प्रथम तीर्थंकरको कुलकर माननेका क्या हेतु है? कुलकर तो एक प्रकारके राजा सदृश होते हैं। कहाँ तीर्थंकरपना? और कहाँ कुलकरपना? दोनोंमें बड़ा अन्तर है।

चौथी विचारणीय बात यह है कि श्रुतसागरसूरिने अवसर्पिणी कालमें ६३ शलाका पुरुषोंके अतिरिक्त ९ नारद तथा ११ रुद्र भी माने हैं। किन्तु उत्सर्पिणी कालमें केवल ६३ शलाका पुरुष माने हैं। इस कालमें ९ नारद तथा ११ रुद्रोंको नहीं माना है। उन्होंने ऐसा अपने मनसे माना है या इस मान्यताका भी कुछ आधार रहा है। मैं यहाँ एक और बात पर विचार करना चाहता हूँ। ध्यान दें—

तृतीय अध्यायके पूर्वोक्त सूत्रकी वृत्तिको ध्यानपूर्वक पढ़नेसे ज्ञात होता है कि वर्तमान अवसर्पिणी कालके ऋषभादि चौबीस तीर्थंकरोंके बाद आगे उत्सर्पिणी कालमें जो चौबीस तीर्थंकर होंगे वे ८४ हजार वर्षके बाद होंगे। ८४ हजार वर्षकी गणना इस प्रकार है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवसर्पिणीका पंचमकाल (२१ हजार वर्ष) छठा काल (२१ हजार वर्ष) फिर उत्सर्पिणीका प्रथम काल (२१ हजार वर्ष) द्वितीयकाल (२१ हजार वर्ष) अतः २१ + २१ + २१ + २१ = ८४ हजार वर्ष हुए। इतना काल बीत जानेपर उत्सर्पिणीके तृतीय कालमें २४ तीर्थंकर होंगे।

अब अवसर्पिणी कालके २४ तीर्थंकर कितने कालके बाद होंगे इसपर विचार कीजिए। उत्सर्पिणीका चतुर्थकाल (२ कोड़ाकोड़ी सागर) पंचम काल (३ कोड़ाकोड़ी सागर) छठा काल (४ कोड़ाकोड़ी सागर)। फिर अवसर्पिणीका प्रथम काल (४ कोड़ाकोड़ी सागर) द्वितीय काल (३ कोड़ाकोड़ी सागर) तृतीय काल (२ कोड़ाकोड़ी सागर) इस प्रकार २ + ३ + ४ + ४ + ३ + २ = १८ कोड़ाकोड़ी सागर हुए। अतः १८ कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण काल बीत जानेपर अवसर्पिणी कालके चतुर्थकालमें २४ तीर्थंकर होंगे।

उक्त विवरणसे यह सिद्ध होता है कि उत्सर्पिणी कालके तृतीय कालमें होनेवाले तीर्थंकर अल्पकाल (केवल ८४ हजार वर्ष) के बाद होते हैं किन्तु अवसर्पिणी कालके चतुर्थ कालमें होने वाले २४ तीर्थंकर बहुत काल (१८ कोड़ाकोड़ी सागर) के बाद होते हैं। अर्थात् प्रत्येक उत्सर्पिणीके तृतीय कालमें होनेवाली चौबीसी ८४ हजार वर्ष बाद और प्रत्येक अवसर्पिणीके चतुर्थ कालमें होनेवाली चौबीसी १८ कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण कालके बाद होती है। यहाँ यह समझमें नहीं आ रहा है कि एक चौबीसीके बाद दूसरी चौबीसी के होनेमें कभी बहुत कम कालका अन्तर और कभी बहुत अधिक कालका अन्तर क्यों होता है ? इस विषयमें शायद यह उत्तर दिया जा सकता है वस्तु स्थिति अथवा काल व्यवस्थाके कारण ऐसा होता है। फिर भी दो चौबीसीके बीचमें कालका कहीं बहुत कम और कहीं बहुत अधिक अन्तराल कुछ विचित्रसा लगता है। कहाँ ८४ हजार वर्ष ? और कहाँ १८ कोड़ाकोड़ी सागर ? इन दोनोंमें कितना महान् अन्तर है।

सम्पादन की विशेषता

तत्त्वार्थवृत्तिके सम्पादक डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य जैनदर्शन, बौद्धदर्शन तथा अन्य दर्शनोंके प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्होंने सर्वश्री पं० सुखलाल संघवी, पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री तथा दलसुखजी मालवणिया आदि उच्चकोटिके विद्वानोंके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण सम्पादन कार्यमें अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी। यही कारण है कि उन्होंने सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय, तत्त्वार्थराजवार्तिक, न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड, षड्दर्शनसमुच्चय आदि अनेक ग्रन्थोंका शोधपूर्ण सम्पादन किया है। यह तो सम्पादक ही जानता है कि शोधपूर्ण सम्पादन करनेमें उसे कितना परिश्रम करना पड़ता है।

विद्वान् सम्पादकने तत्त्वार्थवृत्तिका सम्पादन चार कागजकी तथा एक ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियोंके आधारपर किया है। इसमें बनारस, आरा और दिल्लीसे प्राप्त प्राचीन कागजकी चार पाण्डुलिपियों (प्रतियों) का उपयोग किया गया है। किन्तु मूडबिद्रीसे प्राप्त ताड़पत्रीय प्रतिके आधारसे ही तत्त्वार्थवृत्तिका शुद्ध संस्करण सम्पादित हो सका है। यहाँ यह स्मरणीय है कि दिगम्बर वाङ्मयके शुद्ध सम्पादनमें ताड़पत्रीय प्रतियाँ बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई हैं। इस प्रकार उक्त पाँच प्रतियोंके आधारसे तत्त्वार्थवृत्तिका सम्पादन किया गया है। मूडबिद्री जैन मठकी प्रति कन्नड़ लिपिमें है और शुद्ध है। तथा उसमें कुछ टिप्पण भी उपलब्ध हुए हैं। उन टिप्पणोंको 'ता० टि०' के साथ छपाया गया है। कुछ अर्थबोधक टिप्पण भी लिखे गये हैं।

प्रस्तावना

सम्पादित ग्रन्थकी प्रस्तावना सम्पादनका ही अंग होती है। यथार्थमें प्रस्तावनाके द्वारा ही सम्पादक की विद्वत्ता, विचारशैली, ग्रन्थ समीक्षा आदिका परिचय मिलता है। विद्वान् सम्पादकने ९३ पृष्ठोंकी विस्तृत प्रस्तावना लिखी है जो पठनीय और मननीय है। कुछ गम्भीर विषयोंपर अपने स्वतन्त्र, तर्कपूर्ण और निर्भीक विचार प्रस्तुत करनेमें भी उन्होंने कोई संकोच नहीं किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तावनामें सर्वप्रथम भगवान् महावीरके समकालीन ६ प्रमुख तीर्थनायकोंके मतोंपर विचार किया गया है। उनके नाम तथा मत इस प्रकार हैं—(१) अजितकेशकम्बलि (भौतिकवाद, उच्छेदवाद) (२) मक्खलिगोशाल (नियतवाद) (३) पूरणकश्यप (अक्रियावाद (४) प्रक्रुधकात्यायन (कूटस्थ नित्यवाद) (५) संजयबेलट्ठिपुत्त (संशयवाद) (६) गौतमबुद्ध (अव्याकृतवाद, अनात्मवाद) ।

इसके बाद सम्पादकने भगवान् महावीरके विषयमें बतलाया है कि वे न तो अनिश्चयवादी थे, न अव्याकृतवादी और न भूतवादी। यथार्थमें वे अनेकान्तवादी और स्याद्वादी थे। उन्होंने बतलाया था कि न तो कोई द्रव्य नया उत्पन्न होता है और न उसका सर्वथा विनाश होता है। किन्तु प्रत्येक द्रव्यमें प्रतिक्षण परिवर्तन अवश्य होता रहता है। क्योंकि उसका यही स्वभाव है। महावीरने कहा था—"उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा"—अर्थात् प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होता है, विनष्ट होता है और ध्रुव है। इसके अतिरिक्त महावीरने प्रत्येक वस्तुको अनन्तधर्मात्मक बतलाया है।

तदनन्तर भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंका विस्तारसे विवेचन किया गया है। इस सात तत्त्वोंका श्रद्धान और ज्ञान मुमुक्षुके लिए आवश्यक है। इसी प्रकरणमें बुद्धके अनात्मवादका युक्तिपूर्वक निराकरण करके जैनदर्शन सम्मत आत्माका स्वरूप उसके भेद आदिके विषयमें अच्छा प्रकाश डाला गया है।

सात तत्त्वोंके विवेचनके बाद सम्पादकने सम्यग्दर्शनके विषयमें अनेक शीर्षकोंके विस्तारसे विचार किया है। यथा—

सम्यग्दर्शनका सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शनका यर्थार्थ स्वरूप बतलानेके बाद सम्पादकने लिखा है—

सम्यग्दर्शनके अन्तरंग स्वरूपकी जगह आज बाहरी पूजा-पाठने ले ली है। जो महावीर और पद्मप्रभु वीतरागताके प्रतीक थे आज उनकी पूजा व्यापार-लाभ, पुत्रप्राप्ति, भूतबाधा शान्ति जैसी क्षुद्रकामनाओंकी पूर्तिके लिए ही की जाने लगी है। इनके मन्दिरोंमें शासना देवता स्थापित हुए हैं और उनकी पूजा और भक्तिने ही मुख्य स्थान प्राप्त कर लिया है। और यह सब हो रहा है सम्यग्दर्शनके पवित्र नाम पर।

परम्पराका सम्यग्दर्शन

यहाँ बतलाया गया है कि प्राचीन होनेसे ही कोई विचार अच्छा या नवीन होनेसे ही कोई विचार बुरा नहीं कहा जा सकता। किन्तु जो समीचीन हो वही ग्राह्य होता है। सभी पुराना अच्छा और सभी नया बुरा नहीं हो सकता है। अतः बुद्धिमान् लोग परीक्षा करके उनमेंसे जो समीचीन होता है उसको ग्रहण कर लेते हैं। अतः प्राचीनताके मोहको छोड़कर समीचीनताकी ओर दृष्टि रखना आवश्यक है। क्योंकि इस प्राचीनताके मोहने अनेक अन्धविश्वासों और कुरूढ़ियोंको जन्म दिया है ।

संस्कृतिका सम्यग्दर्शन

इसमें बतलाया गया है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। बच्चा जब उत्पन्न होता है उस समय वह बहुत कम संस्कारोंको लेकर आता है और उसका ९९ प्रतिशत विकास माता-पिताके संस्कारोंके अनुसार होता है। यदि किसी चाण्डालका बालक ब्राह्मणके यहाँ पले तो उसमें बहुत कुछ संस्कार ब्राह्मणोंके आ जाते हैं। तात्पर्य यह है कि नूतन पीढ़ी के लिए माता-पिता ही बहुत कुछ उत्तरदायी होते हैं। आज संस्कृतिकी रक्षाके नामपर लोग समाजमें अनेक प्रकारके अनर्थ करते रहते हैं। अतः सबसे पहले जैन संस्कृतिके स्वरूप को जानना आवश्यक है। क्योंकि जैन संस्कृतिने आत्माके अधिकार और स्वरूपकी ओर हमारा ध्यान दिलाया है और कहा है कि संस्कृतिका सम्यग्दर्शन हुए बिना आत्मा कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्यात्म और नियतिवादका सम्यग्दर्शन

इसमें बतलाया गया है कि जगत्में जो सत् है उसका सर्वथा विनाश नहीं हो सकता और सर्वथा नये किसी असत्का सद्रूपमें उत्पाद नहीं हो सकता। जीव, पुद्गल आदि जो छह मौलिक द्रव्य हैं इनमेंसे न तो कोई द्रव्य कम हो सकता है और न कोई नया द्रव्य उत्पन्न होकर इसकी संख्यामें वृद्धि कर सकता है। प्रत्येक द्रव्य परिणामी नित्य है। द्रव्यगत मूल स्वभावकी अपेक्षा प्रत्येक द्रव्यके अपने परिणमन नियत हैं। जैनदर्शनकी दृष्टिसे द्रव्यगत शक्तियाँ नियत हैं, पर उनके प्रतिक्षणके परिणमन अनियत हैं।

इस प्रकरणमें सम्पादकने नियतिवादका निर्भयतापूर्वक खण्डन किया है। वे लिखते हैं—"जो होना होगा वह होगा ही, इसमें हमारा कुछ भी पुरुषार्थ काम नहीं करता है।" इस प्रकारके नियतिवाद सम्बन्धी विचार जैनतत्त्वस्थितिके प्रतिकूल हैं। नियतिवाद दृष्टिविष है। 'ईश्वरकी मर्जी', 'विधिका विधान' इत्यादि प्रकारके शब्दोंका प्रयोग पुरुषार्थकी महत्ताको कम कर देते हैं। नियतिवादका कालकूट ईश्वरवादसे भी भयंकर है। नियतिवादमें पुण्य और पापकी व्यवस्था भी नहीं बन सकती है। जब प्रत्येक जीवका प्रति समयका परिणमन निश्चित है तब क्या पुण्य और क्या पाप। ऐसा क्यों हुआ? नियतिवादमें इस प्रश्नका एक ही उत्तर है—ऐसा ही होना था, जो होना होगा सो होगा ही।" नियतिवादमें पुरुषार्थका कोई स्थान नहीं है। इत्यादि प्रकारसे संपादकने नियतिवादके सम्बन्धमें विस्तारसे जो प्रतिपादन किया है वह चिन्तनके योग्य है।

निश्चय और व्यवहारका सम्यग्दर्शन

यहाँ बतलाया गया है कि निश्चयनय परनिरपेक्ष आत्मस्वरूपको बतलाता है। उसकी दृष्टि वीतरागतापर रहती है। निश्चयनय जहाँ मूल द्रव्य स्वभावको विषय करता है वहाँ व्यवहारनय परसापेक्ष पर्याय को विषय करता है। निश्चयनय भूतार्थ है और व्यवहारनय अभूतार्थ है। मूल द्रव्यदृष्टिसे सभी आत्माओं की स्थिति एक प्रकार की है। शुद्ध द्रव्यस्वरूप उपादेय है यही निश्चयनय की भूतार्थता है। व्यवहारनयकी अभूतार्थता इतनी ही है कि वह जिन विभाव पर्यायोंको विषय करता है वे विभाव पर्यायें हेय हैं, उपादेय नहीं। परनिरपेक्ष द्रव्यस्वरूप और परनिरपेक्ष पर्यायें निश्चयनयके विषय हैं और परसापेक्ष परिणमन व्यवहारनयके विषय हैं।

परलोकका सम्यग्दर्शन

यहाँ बतलाया गया है कि जब आत्मा एक स्थूल शरीरको छोड़कर अन्य स्थूल शरीरको धारण करता है तो वह परलोक कहलाता है। परलोकका अर्थ मनुष्यगति, तिर्यञ्चगति, नरकगति और देवगति इन चार गतियोंसे है। नरक अत्यन्त दुःखके स्थान हैं और स्वर्ग सांसारिक अभ्युदयके स्थान हैं। इनमें मनुष्य कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकता है किन्तु मनुष्यके लिए मरकर उत्पन्न होनेके दो स्थान तो ऐसे हैं जिन्हें मनुष्य इसी जन्ममें सुधार सकता है। ये स्थान हैं मनुष्ययोनि और पशुयोनि। अतः आधे परलोकका सुधारना हमारे हाथमें है। हमें मनुष्य समाज और पशु समाजको इस योग्य बना लेना चाहिए कि यदि इनमें पुनः जन्म लेना पड़े तो अनुकूल वातावरण तो मिल जाय। परलोकका अर्थ दूसरे लोग भी होता है। अतः परलोकके सुधारका अर्थ मानव समाजका सुधार भी होता है। इसके अतिरिक्त परलोकका अर्थ हमारी सन्तति और शिष्य परम्परा भी हो सकता है। इसलिए परलोक सुधारनेका अर्थ है अपनी सन्तान और शिष्य परम्पराको सुधारना। इस प्रकार परलोकके सुधारके लिए हमें परलोकके सम्यग्दर्शनकी आवश्यकता है।

कर्म सिद्धान्तका सम्यग्दर्शन

यहाँ यह बतलाया गया है कि जैनदर्शनके अनुसार प्रत्येक जीव स्वतन्त्र है। और वह स्वयं अपने भाग्यका विधाता है। अपने कर्मका कर्ता और उसके फलका भोक्ता भी वही है। किन्तु अनादि से कर्म पर-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तन्त्र होनेके कारण वह अपने स्वभावको भूला हुआ है। इस कारण वह किसी आपत्तिके आनेपर 'करमगति टाली नाहिं टलै', 'विधिका विधान ऐसा ही है', 'भवितव्यता दुर्निवार है' इत्यादि वाक्योंका प्रयोग करता है। यह तो वही हुआ कि जब जैनदर्शनने ईश्वरकी दासतासे मुक्ति दिलाई तो कर्मकी दासता स्वीकार कर ली। यथार्थमें कर्मकी गति अटल नहीं है। उसे हम अपने पुरुषार्थसे टाल सकते हैं। उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण आदि कर्मकी विविध अवस्थायें हमारे पुरुषार्थके अधीन हैं। अतः कर्मका सम्यग्दर्शन करके हमें अपने अनुकूल सत्पुरुषार्थमें लग जाना चाहिए। वही पुरुषार्थ सत् कहलाता है जो आत्मकल्याणका साधक होता है।

शास्त्रका सम्यग्दर्शन

इस प्रकरणमें यह बतलाया गया है कि वैदिक परम्परा धर्म और अधर्मकी व्यवस्थाके लिए वेदको प्रमाण मानती है तथा धर्मका ज्ञान केवल वेदके द्वारा ही मानती है। किन्तु जैन परम्पराने केवल शास्त्र होनेके कारण ही किसी शास्त्रकी प्रमाणता स्वीकार नहीं की है। यहाँ तो उसी शास्त्रको प्रमाण माना गया है जिसका प्रणयन सर्वज्ञ और वीतराग पुरुष द्वारा हुआ हो। वर्तमान में अनेक ऐसे शास्त्र प्रचलित हैं जिनका मूल-परम्परा से मेल नहीं खाता है। वही शास्त्र प्रमाण हैं जिसमें हमारी मूलपरम्परासे विरोध न आता हो। अतः हमें यह विवेक तो करना ही होगा कि इस शास्त्रका प्रतिपाद्य विषय मूलपरम्पराके अनुसार है या नहीं। तात्पर्य यह है कि मात्र शास्त्र होनेके कारण ही कोई ग्रन्थ प्रमाण नहीं माना जा सकता है। इसप्रकार शास्त्र विषयक सम्यग्दर्शनके द्वारा हमें यह जानना चाहिए कि इस शास्त्रमें किस युगमें किस पात्रके लिए किस विवक्षासे क्या बात लिखी गई है। यही शास्त्रका सम्यग्दर्शन है।

तत्त्वाधिगमके उपाय

इस प्रकरणमें प्रमाण, नय और निक्षेपका अच्छी तरहसे स्वरूप, भेद आदि समझाकर जैनदर्शन सम्मत स्याद्वादके विषयमें विस्तारसे विचार किया गया है। यह द्रष्टव्य है कि स्याद्वादमें जो 'स्यात्' शब्द है वह एक निश्चित अवस्थाको बतलाता है। स्यात्का अर्थ न तो संशय है, न संभावना, न अनिश्चय और न कदाचित्। शंकराचार्यने शांकरभाष्यमें स्याद्वादको संशयरूप लिखा है। इसीके अनुसार वर्तमानमें अनेक विद्वान् स्याद्वादको संशयादिरूप मानते हैं। अतः विद्वान् सम्पादकने महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, डॉ० सम्पूर्णानन्द, डॉ० देवराज आदि विद्वानोंके स्याद्वाद सम्बन्धी मन्तव्योंकी युक्तिपूर्वक समीक्षा करके जैनदर्शन सम्मत स्याद्वादके स्वरूपको पूर्णरूपसे स्पष्ट किया है और उसमें संशय, विरोध आदि दोषोंका निराकरण भी किया है।

लोकवर्णन और भूगोल

इस प्रकरणमें यह बतलाया गया है कि जिसप्रकार अपने सिद्धान्तों और तत्त्वोंके स्वतन्त्र प्रतिपादनके कारण जैनधर्म और जैनदर्शनका भारतवर्षमें स्वतन्त्र स्थान है उस प्रकार जैन भूगोल और जैन खगोलका स्वतन्त्र स्थान नहीं है। यथार्थ बात यह है कि भूगोल कभी स्थिर नहीं रहता है। वह तो कई कारणोंसे कालक्रमसे बदलता रहता है। जैन शास्त्रोंमें भूगोल और खगोलका जो वर्णन मिलता है उसकी परम्परा लगभग तीन हजार वर्ष पुरानी है। प्रायः यही परम्परा अन्य सम्प्रदायोंके ग्रन्थोंमें भी पाई जाती है। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्पराओंके भूगोल और खगोल सम्बन्धी वर्णन लगभग एक जैसे हैं।' सबमें जम्बूद्वीप, विदेह, देवकुरु, उत्तरकुरु, सुमेरु आदि नाम पाये जाते हैं और लाखों योजनकी गिनती भी पायी जाती है। निष्कर्ष यह है कि भूगोल और खगोलकी जो परम्परा परिपाटीसे जैनाचार्योंको मिली उसे उन्होंने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्रोंमें लिख दिया है । जैन परम्पराको तत्त्वार्थसूत्रके तृतीय और चतुर्थ अध्यायमें निबद्ध किया गया है ।

बौद्ध परम्परा

भूगोल और खगोलके सम्बन्धमें जो बौद्ध परम्परा है, अभिधर्मकोशके आधारसे उसका विवरण इस प्रकार है—

बौद्ध परम्परामें चार द्वीप हैं—जम्बूद्वीप, पूर्वविदेह, अवरगोदानीय और उत्तरकुरु । चारों द्वीपोंके मध्यमें देह, विदेह आठ अन्तर द्वीप हैं । यहाँ अवीचि, प्रतापन, तपन, महारौरव, रौरव, संघात, कालसूत्र और संजीवक ये आठ नरक हैं । स्वर्गलोकमें महाराजिक, त्रायस्त्रिंश आदि कई प्रकारके देव बतलाये गये हैं । महाराजिक और त्रायस्त्रिंश जातिके देव मनुष्योंके समान कामसेवन करते हैं । यामदेव आलिंगनसे, तुषित देव पाणिसंयोगसे, निर्माणरति देव हास्यसे और परिनिर्मितवशवर्ती देव अवलोकनसे काम सुखका अनुभव करते हैं । इस काम सेवनकी तुलना तत्त्वार्थसूत्रके निम्नलिखित सूत्रोंसे कीजिए—कायप्रवीचारा आ ऐशानात् । ४/७ शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनः प्रवीचाराः । ४/८ ।

वैदिकपरम्परा

यहाँ भूगोल और खगोल सम्बन्धी परम्पराका तीन आधारोंसे वर्णन किया गया है । एक आधार है योगदर्शनका व्यास भाष्य, दूसरा आधार है विष्णुपुराण और तीसरा आधार है श्रीमद्भागवत पुराण । इन तीनोंमें प्रायः एक समान वर्णन है । कहीं कुछ भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है । इस परम्परामें भूलोक, अन्तरिक्षलोक, स्वर्गलोक, पाताललोक आदि सात लोक हैं । भूलोकपर जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर ये सात द्वीप हैं । ये द्वीप लवण, इक्षु, सुरा, घृत, दधि, दुग्ध और जल इन सात समुद्रोंसे घिरे हुए हैं । जम्बूद्वीपके मध्यमें सुवर्णमय मेरुपर्वत है जो ८४ हजार योजन ऊँचा है । मेरुके दक्षिणमें भारत, किम्पुरुष और हरिवर्ष ये तीन क्षेत्र हैं । तथा उत्तरमें रम्यक, हिरण्मय और उत्तरकुरु ये तीन क्षेत्र हैं । समुद्रके उत्तरमें तथा हिमालयके दक्षिणमें भारत क्षेत्र है । पुष्करद्वीपके बीचमें मानुषोत्तर पर्वत स्थित है । इस द्वीपमें महावीर और धातकीखण्ड ये दो क्षेत्र हैं । वैदिक परम्परामें स्वर्गलोकके माहेन्द्रलोक, ब्रह्मलोक आदि पाँच भेद हैं । योगदर्शनके अनुसार अवीचि, महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र और अन्धतामिस्र ये सात नरक हैं । किन्तु श्रीमद्भागवतपुराणके अनुसार तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव महारौरव, कालसूत्र, अन्धकूप, कुंभपीक आदि अट्ठाईस नरक हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध और वैदिक—इन तीनों परम्पराओंमें द्वीपों, समुद्रों, स्वर्गों और नरकोंका वर्णन पाया जाता है । इनकी संख्यामें अवश्य भेद है । किन्तु जैनदर्शनकी परम्पराने ही असंख्यात द्वीप और समुद्र माने हैं; अन्य किसी परम्पराने नहीं । इसका कारण क्या है यह विचारणीय विषय है । यह सभीने माना है कि सूर्य और चन्द्रमा निरन्तर मेरुकी प्रदक्षिणा करते रहते हैं । संभवतः इस मान्यताका आधार प्राचीन परम्परा है । परन्तु आधुनिक विज्ञानके अनुसार इस परम्पराका कोई मेल नहीं बैठता है । फिर भी जैन, बौद्ध और वैदिक इन तीनों परम्पराओंके भूगोल और खगोलके तुलनात्मक अध्ययनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि आजसे लगभग तीन हजार वर्ष पहले भूगोल और खगोलके सम्बन्धमें लगभग एक जैसी अनुश्रुतियाँ प्रचलित थीं ।

प्रस्तावनाके अन्तमें विद्वान् सम्पादक महोदयने ग्रन्थ और ग्रन्थकारके सम्बन्धमें विस्तारसे समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org